

सतत विकास एवं पर्यावरण-संरक्षण में बौद्ध दृष्टि ; एक दार्शनिक अनुशीलन

डॉ० श्रीप्रकाश तिवारी

असि० प्रो०, काशी नरेश वि०वि०, ज्ञानपुर, भदोही

Email: sptiwari632@gmail.com

DOI: <https://doi.org/10.64880/theresearchdialogue.v5i3.10>

ARTICLE DETAILS

Research Paper

Received: 10-09-2026

Accepted: 05-10-2026

Published: 19-10-2026

Corresponding Author:

डॉ० श्रीप्रकाश तिवारी

मुख्य शब्द: सतत विकास, पर्यावरण-संरक्षण, बौद्ध दर्शन, प्रतीत्यसमुत्पाद, करुणा, अहिंसा, मध्यम मार्ग, पर्यावरणीय नैतिकता, पारिस्थितिक अंतर्संबद्धता, उत्तरदायी उपभोग।

OPEN ACCESS

सारांश

वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में पर्यावरणीय संकट मानव सभ्यता के समक्ष एक गंभीर अस्तित्वगत चुनौती के रूप में उपस्थित है। जलवायु परिवर्तन, जैव-विविधता का तीव्र हास, प्राकृतिक संसाधनों का अनियंत्रित दोहन तथा उपभोक्तावादी जीवन-दृष्टि विकास की प्रचलित अवधारणाओं की सीमाओं को उजागर करते हैं। ऐसी परिस्थिति में सतत विकास की संकल्पना का परीक्षण केवल आर्थिक अथवा तकनीकी मानदंडों के आधार पर पर्याप्त नहीं है; इसके लिए दार्शनिक, नैतिक और सांस्कृतिक पुनर्विचार भी आवश्यक है। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य बौद्ध दर्शन की प्रमुख अवधारणाओं—प्रतीत्यसमुत्पाद, करुणा, अहिंसा, मध्यम मार्ग तथा अल्पेच्छा—के आलोक में सतत विकास और पर्यावरण-संरक्षण का दार्शनिक अनुशीलन करना है। इस अध्ययन का मूल प्रतिपाद्य यह है कि पर्यावरणीय संकट को केवल प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता अथवा तकनीकी प्रबंधन की समस्या मानकर नहीं समझा जा सकता; इसके पीछे मानवीय तृष्णा, उपभोग-केंद्रित जीवन-दृष्टि और प्रकृति के प्रति प्रभुत्ववादी मानसिकता भी सक्रिय हैं। बौद्ध दृष्टि इस संकट के प्रत्युत्तर में नैतिक आत्मानुशासन, करुणामूलक आचरण, संयमित उपभोग तथा परस्पर निर्भरता की चेतना को महत्त्व देती है। विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक और समालोचनात्मक पद्धति के आधार पर यह लेख इस संभावना का परीक्षण करता है कि बौद्ध दर्शन समकालीन सतत-विकास विमर्श को केवल नैतिक प्रेरणा ही नहीं, बल्कि मानव, समाज और प्रकृति के संबंधों को संतुलित सह-अस्तित्व के परिप्रेक्ष्य में समझने का दार्शनिक आधार भी प्रदान कर सकता है। इस दृष्टि से बौद्ध अवधारणाओं की समकालीन पुनर्व्याख्या पर्यावरणीय नैतिकता तथा व्यावहारिक नीतिगत विमर्श—दोनों के लिए प्रासंगिक है।

1. भूमिका

वर्तमान युग में मानव सभ्यता जिस पर्यावरणीय संकट का सामना कर रही है, वह केवल प्राकृतिक संसाधनों के क्षरण का संकट नहीं, बल्कि मानव की विकास-दृष्टि, नैतिक चेतना तथा जीवन-मूल्यों के असंतुलन का भी संकट है। वैश्विक तापवृद्धि, जलवायु परिवर्तन, जैव-विविधता का तीव्र हास, वनों का विनाश, जल एवं वायु प्रदूषण तथा प्राकृतिक संसाधनों के अनियंत्रित दोहन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि आधुनिक विकास-प्रतिमान प्रकृति और मानव के मध्य संतुलित संबंध स्थापित करने में असफल रहा है। आर्थिक विकास की निरंतर बढ़ती प्रतिस्पर्धा ने प्रकृति को केवल उत्पादन और उपभोग का साधन मान लिया है, जिसके परिणामस्वरूप पारिस्थितिक संतुलन गंभीर

रूप से प्रभावित हुआ है। इसी कारण आज विकास की अवधारणा का पुनर्मूल्यांकन दार्शनिक एवं नैतिक दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हो गया है।¹

'सतत विकास' की संकल्पना इसी पुनर्विचार का परिणाम है। इसका अभिप्राय ऐसा विकास है जो वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भावी पीढ़ियों के जीवन, संसाधनों एवं पर्यावरणीय अधिकारों को सुरक्षित रखे। किन्तु यह अवधारणा केवल संसाधनों के न्यायपूर्ण उपयोग तक सीमित नहीं है; इसका गहरा संबंध मानव के नैतिक उत्तरदायित्व, सामाजिक न्याय तथा प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता से भी है। इस प्रकार सतत विकास मूलतः एक दार्शनिक अवधारणा है, क्योंकि यह मनुष्य और प्रकृति के संबंधों के स्वरूप, विकास के उद्देश्य तथा नैतिक दायित्वों के पुनर्निर्धारण का प्रश्न उठाती है।²

भारतीय दार्शनिक परम्परा में बौद्ध दर्शन इस संदर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण दृष्टि प्रस्तुत करता है। यद्यपि बुद्ध ने आधुनिक अर्थों में 'सतत विकास' अथवा 'पर्यावरण-संरक्षण' जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया, तथापि उनके उपदेशों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद, करुणा, अहिंसा, मध्यम मार्ग तथा अल्पेच्छा के सिद्धान्त प्रकृति और मानव के संबंधों को समझने की ऐसी तात्त्विक एवं नैतिक आधारभूमि प्रदान करते हैं, जो समकालीन पर्यावरणीय नैतिकता के अनेक मूलभूत सिद्धान्तों से गहरा साम्य रखती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार समस्त अस्तित्व पारस्परिक निर्भरता पर आधारित है; अतः किसी भी जीव, समुदाय अथवा प्राकृतिक तत्त्व का विनाश अंततः सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था को प्रभावित करता है।³

इस शोध-पत्र का मूल प्रतिपाद्य यह है कि पर्यावरणीय संकट का समाधान केवल वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी, विधिक नियंत्रण अथवा आर्थिक नीतियों में नहीं खोजा जा सकता। ये सभी उपाय आवश्यक होते हुए भी तब तक स्थायी परिणाम नहीं दे सकते, जब तक मानव की चेतना, मूल्यबोध तथा जीवन-दृष्टि में परिवर्तन न हो। बौद्ध दर्शन इसी नैतिक रूपान्तरण का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। करुणा समस्त प्राणियों के प्रति उत्तरदायित्व का बोध कराती है, अहिंसा जीवन के प्रति संवेदनशीलता विकसित करती है, मध्यम मार्ग संयमित एवं उत्तरदायी उपभोग की प्रेरणा देता है तथा प्रतीत्यसमुत्पाद सम्पूर्ण अस्तित्व की पारस्परिक निर्भरता का तात्त्विक प्रतिपादन करता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन सतत विकास को केवल आर्थिक अवधारणा न मानकर एक समग्र जीवन-दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करता है।⁴

प्रस्तुत अध्ययन विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक एवं समालोचनात्मक पद्धति पर आधारित है। इसमें बौद्ध दर्शन के मूल ग्रन्थों तथा समकालीन पर्यावरणीय विमर्श के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि वर्तमान वैश्विक पर्यावरणीय संकट के समाधान के लिए तकनीकी दक्षता जितनी आवश्यक है, उतनी ही आवश्यक मानवीय चेतना का नैतिक एवं आध्यात्मिक परिष्कार भी है। इसी संदर्भ में बौद्ध दर्शन सतत विकास एवं पर्यावरण-संरक्षण के लिए एक वैकल्पिक, मानवीय तथा दार्शनिक रूप से सुदृढ़ प्रतिमान प्रस्तुत करता है।

2. सतत विकास एवं पर्यावरण-संरक्षण : एक दार्शनिक परिप्रेक्ष्य

सतत विकास (Sustainable Development) की संकल्पना का उद्भव यद्यपि समकालीन वैश्विक पर्यावरणीय विमर्श की पृष्ठभूमि में हुआ, तथापि इसका दार्शनिक आशय केवल आर्थिक विकास और पर्यावरण-संरक्षण के मध्य संतुलन स्थापित करना नहीं है। यह

मूलतः मनुष्य, प्रकृति तथा विकास के पारस्परिक संबंधों के पुनर्परिभाषीकरण का प्रयास है। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता ने विकास को उत्पादन, उपभोग तथा संसाधनों के अधिकतम दोहन से जोड़ दिया, जिसके परिणामस्वरूप प्रकृति का अंतर्निहित मूल्य (Intrinsic Value) क्रमशः उपेक्षित होता गया। फलतः पर्यावरणीय संकट केवल प्राकृतिक संसाधनों के क्षय तक सीमित न रहकर मानव अस्तित्व के लिए भी गंभीर चुनौती बन गया।⁵

दार्शनिक दृष्टि से विचार किया जाए तो विकास का प्रश्न मूलतः मूल्य (Value) का प्रश्न है। यदि विकास का उद्देश्य केवल भौतिक समृद्धि माना जाए, तो प्रकृति स्वाभाविक रूप से एक साधन (Means) बन जाती है; किन्तु यदि विकास का लक्ष्य समग्र मानव-कल्याण, सामाजिक न्याय तथा पारिस्थितिक संतुलन माना जाए, तो प्रकृति स्वयं एक नैतिक सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित होती है। इसीलिए समकालीन पर्यावरणीय नैतिकता (Environmental Ethics) ने मानव-केंद्रित (Anthropocentric) दृष्टिकोण के स्थान पर जीवन-केंद्रित (Biocentric) एवं पारिस्थितिकी-केंद्रित (Ecocentric) दृष्टिकोण को महत्त्व दिया है।⁶

पर्यावरण-संरक्षण की अवधारणा भी इसी दार्शनिक परिवर्तन का परिणाम है। इसका अभिप्राय केवल वनों, नदियों अथवा वन्यजीवों का संरक्षण नहीं है, बल्कि उस समग्र जीवन-व्यवस्था की रक्षा करना है, जिसके आधार पर समस्त जैविक एवं सामाजिक अस्तित्व निर्मित होता है। इस दृष्टि से पर्यावरण-संरक्षण एक नैतिक उत्तरदायित्व है, क्योंकि मानव स्वयं प्रकृति से पृथक् कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं, बल्कि उसी के व्यापक तंत्र का एक अविभाज्य अंग है। अतः प्रकृति के प्रति उत्तरदायित्व वस्तुतः मानव के अपने अस्तित्व के प्रति उत्तरदायित्व है।⁷

यद्यपि आधुनिक पर्यावरणीय विमर्श ने सतत विकास को वैश्विक नीति का आधार बनाया है, तथापि उसके समक्ष सबसे बड़ी चुनौती उपभोक्तावाद (Consumerism) और असीमित विकास (Unlimited Growth) की विचारधारा है। आज की आर्थिक व्यवस्था निरंतर उत्पादन और उपभोग को प्रगति का मानदण्ड मानती है, जबकि पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधन सीमित हैं। परिणामस्वरूप विकास और पर्यावरण के मध्य संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। वस्तुतः यह संघर्ष विकास और पर्यावरण का नहीं, बल्कि विकास की उस अवधारणा का है जो प्रकृति को केवल आर्थिक पूँजी के रूप में देखती है।⁸

यहीं से बौद्ध दर्शन की प्रासंगिकता प्रारम्भ होती है। बौद्ध दृष्टिकोण विकास और प्रकृति के मध्य किसी अंतर्विरोध को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसके अनुसार समस्त अस्तित्व पारस्परिक निर्भरता पर आधारित है। यदि विकास का आधार करुणा, संयम, अहिंसा तथा सम्यक् दृष्टि हो, तो वह अनिवार्यतः पर्यावरण-सम्मत होगा। इसके विपरीत यदि विकास का आधार तृष्णा, संग्रह-वृत्ति और उपभोग की अनियंत्रित आकांक्षा हो, तो वह स्वयं अपने विनाश का कारण बन जाएगा। इस प्रकार बौद्ध दर्शन सतत विकास को केवल आर्थिक रणनीति नहीं, बल्कि नैतिक आत्मानुशासन और अस्तित्वगत उत्तरदायित्व (Ontological Responsibility) की प्रक्रिया के रूप में समझने की प्रेरणा देता है। यही इसकी दार्शनिक विशिष्टता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि सतत विकास और पर्यावरण-संरक्षण की वास्तविक आधारभूमि बाह्य संसाधनों के प्रबंधन में नहीं, बल्कि मानव की चेतना, मूल्यबोध तथा जीवन-दृष्टि के रूपान्तरण में निहित है। यही वह बिंदु है जहाँ समकालीन पर्यावरणीय दर्शन और बौद्ध

दर्शन का सार्थक संवाद स्थापित होता है तथा यहीं से इस शोध के अगले चरण—बौद्ध दर्शन में पर्यावरणीय चेतना के दार्शनिक आधार—का प्रारम्भ होता है।

3. बौद्ध दर्शन में पर्यावरणीय चेतना का दार्शनिक आधार

बौद्ध दर्शन का मूल उद्देश्य यद्यपि दुःख, उसके कारण तथा उसके निरोध का मार्ग प्रतिपादित करना है, तथापि उसके दार्शनिक एवं नैतिक सिद्धान्तों में निहित जीवन-दृष्टि समस्त सृष्टि के प्रति उत्तरदायित्व, सह-अस्तित्व तथा संतुलित जीवन-पद्धति का भी प्रतिपादन करती है। बुद्ध ने प्रकृति को न तो मनुष्य के उपभोग की वस्तु माना और न ही उसे मनुष्य से पृथक् कोई स्वतंत्र सत्ता; अपितु समस्त जीवन-जगत को परस्पर आश्रित (Interdependent) अस्तित्व के रूप में देखा। यही दृष्टि बौद्ध पर्यावरणीय चेतना का आधार है। इस अर्थ में बौद्ध दर्शन आधुनिक पर्यावरणवाद का प्रत्यक्ष प्रवक्ता नहीं, किन्तु उसके मूलभूत नैतिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का एक प्राचीन एवं सुदृढ़ स्रोत अवश्य है।⁹

इस संदर्भ में प्रतीत्यसमुत्पाद (Pratītyasamutpāda) बौद्ध दर्शन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। "इमस्मिं सति इदं होति, इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति"—अर्थात् 'इसके होने से वह होता है; इसके उत्पन्न होने से वह उत्पन्न होता है'।¹⁰ यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि संसार का कोई भी पदार्थ, जीव अथवा घटना स्वतंत्र, स्वायत्त अथवा पूर्णतः पृथक् नहीं है; प्रत्येक सत्ता अन्य सत्ताओं के साथ कारण-कार्य संबंध में जुड़ी हुई है। दार्शनिक दृष्टि से यह केवल कार्य-कारण का सिद्धान्त नहीं, बल्कि अस्तित्व की पारस्परिकता (Ontology of Interdependence) का प्रतिपादन है। यदि इस सिद्धान्त का पर्यावरणीय पुनर्पाठ किया जाए, तो स्पष्ट होता है कि मनुष्य, वन, जल, भूमि, वायु तथा समस्त जैव-विविधता एक ही पारिस्थितिक तंत्र के अविभाज्य घटक हैं। अतः किसी एक घटक का विनाश सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था को प्रभावित करता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद का यह तात्त्विक प्रतिपादन आधुनिक पारिस्थितिकी (Ecology) की उस मान्यता के निकट है, जिसके अनुसार पृथ्वी पर जीवन का अस्तित्व पारिस्थितिक अन्तर्सम्बन्धों पर आधारित है। यद्यपि दोनों की ऐतिहासिक एवं पद्धतिगत आधारभूमियाँ भिन्न हैं, तथापि दोनों इस तथ्य पर सहमत हैं कि जीवन की स्थिरता पारस्परिक निर्भरता और संतुलन पर आधारित है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन पर्यावरण-संरक्षण को बाह्य नैतिक आदेश के रूप में नहीं, बल्कि अस्तित्वगत अनिवार्यता के रूप में स्थापित करता है।¹¹

प्रतीत्यसमुत्पाद के पश्चात् करुणा (Karuṇā) बौद्ध नैतिकता का दूसरा आधारभूत सिद्धान्त है। बौद्ध परम्परा में करुणा का अर्थ केवल दया या सहानुभूति नहीं है, बल्कि समस्त प्राणिमात्र के दुःख को अपना दुःख मानते हुए उसके निवारण के लिए सक्रिय नैतिक प्रतिबद्धता विकसित करना है। यही कारण है कि करुणा का क्षेत्र केवल मानव समाज तक सीमित नहीं रहता, बल्कि पशु-पक्षियों, वनस्पतियों तथा समग्र जीव-जगत तक विस्तृत हो जाता है। पर्यावरणीय नैतिकता के संदर्भ में करुणा का यही व्यापक स्वरूप प्रकृति के प्रति उत्तरदायी आचरण का नैतिक आधार निर्मित करता है।¹²

करुणा का स्वाभाविक परिणाम अहिंसा है। यद्यपि अहिंसा का सर्वाधिक व्यापक प्रतिपादन जैन दर्शन में मिलता है, तथापि बौद्ध दर्शन में भी यह जीवन के प्रति संवेदनशीलता और सम्मान का अनिवार्य मूल्य है। पंचशील का प्रथम नियम—पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं

समादियामि—केवल हिंसा से विरत रहने का उपदेश नहीं देता, बल्कि जीवन की पवित्रता को स्वीकार करने की नैतिक प्रतिज्ञा है। यदि इस सिद्धान्त का विस्तार किया जाए, तो प्राकृतिक संसाधनों का अनावश्यक विनाश, जैव-विविधता का क्षरण तथा पर्यावरण का प्रदूषण भी व्यापक अर्थ में हिंसा के ही रूप हैं, क्योंकि इनसे असंख्य प्राणियों के जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।¹³

इसी प्रकार मध्यम मार्ग (Majjhimā Paṭipadā) बौद्ध दर्शन का ऐसा व्यावहारिक सिद्धान्त है, जो आज के उपभोक्तावादी समाज में विशेष प्रासंगिक प्रतीत होता है। बुद्ध ने भोग और कठोर तप—दोनों अतियों का निषेध करते हुए संयमित, विवेकपूर्ण और संतुलित जीवन-पद्धति का प्रतिपादन किया। आधुनिक संदर्भ में मध्यम मार्ग का आशय आवश्यकताओं और इच्छाओं के मध्य संतुलन स्थापित करना है। यही संतुलन सतत उपभोग (Sustainable Consumption), संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग तथा पर्यावरणीय न्याय की आधारभूमि बनता है। इस प्रकार मध्यम मार्ग केवल आध्यात्मिक अनुशासन नहीं, बल्कि पर्यावरणीय उत्तरदायित्व की भी व्यावहारिक अभिव्यक्ति है।¹⁴

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन में पर्यावरणीय चेतना किसी एक सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। प्रतीत्यसमुत्पाद उसका तात्त्विक आधार है; करुणा और अहिंसा उसके नैतिक मूल्य हैं; तथा मध्यम मार्ग उसका व्यावहारिक प्रतिमान है। इन तीनों के समन्वय से ऐसी जीवन-दृष्टि का निर्माण होता है जिसमें मानव और प्रकृति का संबंध प्रभुत्व का नहीं, बल्कि सह-अस्तित्व, उत्तरदायित्व और संतुलन का है। यही दृष्टि समकालीन सतत विकास के लिए बौद्ध दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिक योगदान है।

4. समकालीन सतत विकास एवं पर्यावरण-संरक्षण के संदर्भ में बौद्ध दृष्टिकोण

समकालीन विश्व अभूतपूर्व पर्यावरणीय संकट से जूझ रहा है। जलवायु परिवर्तन, वैश्विक तापवृद्धि, जैव-विविधता का तीव्र क्षरण, जल-संकट, भूमि-अवनयन तथा वायु प्रदूषण जैसी समस्याएँ आज किसी एक राष्ट्र अथवा क्षेत्र तक सीमित नहीं हैं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के समक्ष साझा चुनौती के रूप में उपस्थित हैं। इन परिस्थितियों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रकृति पर प्रभुत्व और असीमित उपभोग पर आधारित विकास-दृष्टि दीर्घकालिक रूप से आत्मविनाशकारी है। इसलिए वर्तमान पर्यावरणीय विमर्श केवल संसाधनों के संरक्षण तक सीमित न रहकर विकास की दार्शनिक एवं नैतिक आधारभूमि की पुनर्समीक्षा की अपेक्षा करता है।¹⁵

बौद्ध दर्शन इस पुनर्समीक्षा के लिए एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। बुद्ध के अनुसार समस्त दुःख का मूल कारण तृष्णा (Taṇhā) है। यदि इस सिद्धान्त को समकालीन सामाजिक एवं पर्यावरणीय संदर्भ में समझा जाए, तो स्पष्ट होता है कि अनियंत्रित उपभोग, असीमित संग्रह तथा प्रकृति के निरंतर दोहन की प्रवृत्ति भी तृष्णा की ही आधुनिक अभिव्यक्तियाँ हैं। फलतः पर्यावरणीय संकट को केवल प्राकृतिक संसाधनों की समस्या मानना पर्याप्त नहीं है; यह मूलतः मानवीय इच्छाओं की अनियंत्रित वृद्धि तथा उपभोक्तावादी मानसिकता का परिणाम है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन पर्यावरणीय संकट की व्याख्या उसके नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणों के आधार पर करता है, जो आधुनिक पर्यावरणीय नैतिकता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है।¹⁶

इसी संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रतिपादित सतत विकास लक्ष्य (Sustainable Development Goals—SDGs) उल्लेखनीय हैं। इन लक्ष्यों में उत्तरदायी उपभोग, जलवायु कार्रवाई, स्थलीय एवं जलीय पारिस्थितिकी का संरक्षण, स्वच्छ जल, सामाजिक न्याय तथा

वैश्विक साझेदारी पर विशेष बल दिया गया है। यद्यपि इन लक्ष्यों का प्रतिपादन समकालीन वैश्विक नीति-निर्माण की पृष्ठभूमि में हुआ है, तथापि इनके नैतिक आधार बौद्ध दर्शन के अनेक सिद्धान्तों के साथ गहरा साम्य रखते हैं। करुणा सामाजिक उत्तरदायित्व को, अहिंसा समस्त जीवन के प्रति सम्मान को, मध्यम मार्ग संयमित उपभोग को तथा प्रतीत्यसमुत्पाद पारिस्थितिक अंतर्संबद्धता को दार्शनिक आधार प्रदान करता है। इस दृष्टि से बौद्ध दर्शन सतत विकास लक्ष्यों का ऐतिहासिक स्रोत नहीं, बल्कि उनका नैतिक एवं दार्शनिक अधिष्ठान (Normative Foundation) सिद्ध होता है।¹⁷

समकालीन पर्यावरणीय नीतियों के समक्ष एक प्रमुख चुनौती यह है कि वे अनेक बार व्यवहारगत परिवर्तन (Behavioural Change) की अपेक्षा तकनीकी समाधानों पर अधिक निर्भर रहती हैं। निस्संदेह हरित प्रौद्योगिकी, अक्षय ऊर्जा तथा पर्यावरणीय कानून आवश्यक हैं, किन्तु वे तभी प्रभावी हो सकते हैं जब समाज में उत्तरदायी जीवन-शैली, आत्मसंयम तथा प्रकृति के प्रति नैतिक संवेदनशीलता विकसित हो। बौद्ध दर्शन का विशेष महत्त्व इसी तथ्य में निहित है कि वह बाह्य नियंत्रणों की अपेक्षा आन्तरिक अनुशासन को अधिक महत्त्व देता है। इसलिए उसकी पर्यावरण-दृष्टि केवल संरक्षण का कार्यक्रम नहीं, बल्कि चरित्र-निर्माण एवं नैतिक रूपान्तरण की प्रक्रिया भी है।¹⁸

यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि बुद्ध के उपदेश आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था, जलवायु विज्ञान अथवा वैश्विक पर्यावरणीय शासन की समस्याओं को प्रत्यक्ष रूप से संबोधित नहीं करते, तथापि उनके दार्शनिक सिद्धान्त इन समस्याओं के समाधान हेतु आवश्यक नैतिक आधार प्रदान करते हैं। विज्ञान हमें यह बताता है कि पर्यावरणीय संकट क्यों उत्पन्न हो रहा है और उससे निपटने के तकनीकी उपाय क्या हो सकते हैं; परन्तु बौद्ध दर्शन यह बताता है कि मनुष्य अपनी जीवन-दृष्टि में ऐसा कौन-सा परिवर्तन करे जिससे संकट की पुनरावृत्ति ही न हो। यही बौद्ध दृष्टिकोण की स्थायी प्रासंगिकता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि समकालीन सतत विकास की सफलता केवल नीतियों, योजनाओं और प्रौद्योगिकी पर निर्भर नहीं करती, बल्कि उस नैतिक संस्कृति पर भी निर्भर करती है जो मनुष्य और प्रकृति के मध्य उत्तरदायित्वपूर्ण संबंध स्थापित करती है। बौद्ध दर्शन इस नैतिक संस्कृति का ऐसा दार्शनिक प्रतिमान प्रस्तुत करता है जिसमें विकास, करुणा, संयम, न्याय और पारिस्थितिक संतुलन परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। यही बौद्ध दृष्टिकोण की वैश्विक प्रासंगिकता तथा इस अध्ययन का केंद्रीय निष्कर्ष है।

5. समालोचनात्मक मूल्यांकन

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन सतत विकास एवं पर्यावरण-संरक्षण के लिए एक सशक्त नैतिक एवं दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। तथापि किसी भी दार्शनिक परम्परा की प्रासंगिकता का मूल्यांकन उसके ऐतिहासिक स्वरूप और समकालीन उपयोगिता—दोनों के आलोक में किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से बौद्ध दर्शन का पर्यावरणीय पुनर्पाठ (Ecological Re-reading) न तो उसके मूल स्वरूप से विच्छिन्न होना चाहिए और न ही आधुनिक समस्याओं पर आरोपित व्याख्या (Anachronistic Interpretation) का रूप ग्रहण करना चाहिए। अतः यह आवश्यक है कि बौद्ध सिद्धान्तों का उपयोग उनके मूल दार्शनिक संदर्भों को ध्यान में रखते हुए किया जाए।¹⁹

यह निर्विवाद है कि बुद्ध का प्रमुख उद्देश्य पर्यावरणीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं, बल्कि दुःख, उसके कारण और उसके निरोध का मार्ग स्पष्ट करना था। इसलिए यह कहना कि बुद्ध ने आधुनिक अर्थों में पर्यावरण-दर्शन का प्रतिपादन किया था, ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं होगा। परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उनके द्वारा प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद, करुणा, अहिंसा, मध्यम मार्ग और अल्पेच्छा जैसे सिद्धान्त ऐसे सार्वकालिक दार्शनिक मूल्य हैं, जिनकी पुनर्व्याख्या समकालीन पर्यावरणीय संकट के आलोक में पूर्णतः संगत और सार्थक है।²⁰

बौद्ध दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह पर्यावरणीय संकट को केवल संसाधनों के क्षरण की समस्या नहीं मानता, बल्कि उसे मानवीय चेतना के नैतिक अवमूल्यन से जोड़कर देखता है। आधुनिक विकास-प्रतिमान जहाँ प्रकृति को आर्थिक संसाधन के रूप में ग्रहण करता है, वहीं बौद्ध दृष्टिकोण प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व, मर्यादित उपभोग और नैतिक उत्तरदायित्व का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार वह विकास और पर्यावरण के मध्य कृत्रिम द्वन्द्व को समाप्त कर दोनों के मध्य संतुलन स्थापित करने का दार्शनिक आधार प्रदान करता है।²¹

यद्यपि यह भी स्वीकार करना होगा कि समकालीन पर्यावरणीय संकट बहुआयामी है। जलवायु परिवर्तन, ऊर्जा-सुरक्षा, औद्योगिक प्रदूषण, जैव-प्रौद्योगिकी, वैश्विक आर्थिक असमानता तथा पर्यावरणीय शासन जैसी चुनौतियों के समाधान के लिए केवल नैतिक उपदेश पर्याप्त नहीं हो सकते। इन समस्याओं के समाधान हेतु वैज्ञानिक अनुसंधान, प्रभावी सार्वजनिक नीति, विधिक संरचना, हरित प्रौद्योगिकी तथा अंतरराष्ट्रीय सहयोग भी समान रूप से आवश्यक हैं। बौद्ध दर्शन इनका विकल्प प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि इन सबके लिए आवश्यक नैतिक दिशा और मानवीय संवेदनशीलता उपलब्ध कराता है। यही उसकी वास्तविक शक्ति है।²²

दार्शनिक दृष्टि से देखें तो सतत विकास का प्रश्न अन्ततः 'कैसा विकास?' (What kind of Development?) का प्रश्न है। यदि विकास का उद्देश्य केवल उपभोग और आर्थिक विस्तार होगा, तो पर्यावरणीय संकट अपरिहार्य रहेगा; किन्तु यदि विकास का लक्ष्य मानवीय गरिमा, सामाजिक न्याय, पारिस्थितिक संतुलन तथा समस्त प्राणिमात्र के कल्याण से जुड़ा होगा, तो वह स्वभावतः सतत विकास का स्वरूप ग्रहण करेगा। बौद्ध दर्शन इसी दूसरे विकल्प का समर्थन करता है। इसलिए उसकी समकालीन प्रासंगिकता किसी ऐतिहासिक जिज्ञासा में नहीं, बल्कि विकास की नैतिक पुनर्परिभाषा में निहित है।

अतः समालोचनात्मक दृष्टि से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि बौद्ध दर्शन आधुनिक पर्यावरण-विज्ञान अथवा पर्यावरणीय नीति का स्थानापन्न (Substitute) नहीं है, बल्कि उनका नैतिक एवं दार्शनिक पूरक (Philosophical Complement) है। वर्तमान वैश्विक पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में यही उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान है।

6. निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध के समग्र अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित जीवन-दृष्टि समकालीन सतत विकास एवं पर्यावरण-संरक्षण के लिए एक सुदृढ़ दार्शनिक एवं नैतिक आधार प्रस्तुत करती है। यद्यपि बौद्ध साहित्य में आधुनिक अर्थों में 'सतत विकास' अथवा 'पर्यावरण-संरक्षण' जैसी संकल्पनाओं का प्रत्यक्ष प्रतिपादन नहीं मिलता, तथापि प्रतीत्यसमुत्पाद, करुणा, अहिंसा, मध्यम मार्ग तथा

अल्पेच्छा के सिद्धान्त मानव और प्रकृति के मध्य ऐसे संतुलित एवं उत्तरदायित्वपूर्ण संबंध की स्थापना करते हैं, जो वर्तमान पर्यावरणीय विमर्श की मूलभूत अपेक्षाओं के अनुरूप है।

अध्ययन से यह भी प्रतिपादित हुआ है कि वर्तमान पर्यावरणीय संकट का मूल कारण प्राकृतिक संसाधनों का अभाव नहीं, बल्कि मानवीय चेतना में व्याप्त तृष्णा, उपभोक्तावाद, असीमित संग्रह-वृत्ति तथा प्रकृति के प्रति प्रभुत्ववादी दृष्टिकोण है। फलतः इस संकट का स्थायी समाधान केवल वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी, विधिक नियंत्रण अथवा आर्थिक नीतियों में निहित नहीं है। ये सभी उपाय आवश्यक होने पर भी तभी प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं, जब उनके साथ नैतिक आत्मानुशासन, उत्तरदायी जीवन-शैली तथा प्रकृति के प्रति संवेदनशील दृष्टिकोण का विकास भी सुनिश्चित किया जाए।

बौद्ध दर्शन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह बाह्य परिवर्तन से अधिक आन्तरिक रूपान्तरण पर बल देता है। प्रतीत्यसमुत्पाद अस्तित्व की पारस्परिक निर्भरता का बोध कराता है; करुणा समस्त प्राणिमात्र के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व विकसित करती है; अहिंसा जीवन की पवित्रता के प्रति सम्मान का संस्कार प्रदान करती है; तथा मध्यम मार्ग संयमित उपभोग और संतुलित जीवन-पद्धति का आदर्श प्रस्तुत करता है। इन सिद्धान्तों का समन्वय ऐसी पर्यावरणीय नैतिकता का निर्माण करता है, जिसमें विकास और संरक्षण परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक बन जाते हैं।

समकालीन वैश्विक परिप्रेक्ष्य में यह अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सतत विकास को केवल आर्थिक वृद्धि अथवा संसाधनों के प्रबंधन तक सीमित नहीं किया जा सकता। उसका वास्तविक आधार न्यायपूर्ण, करुणामय, उत्तरदायी तथा संतुलित जीवन-दृष्टि में निहित है। इसी कारण बौद्ध दर्शन आज भी केवल एक धार्मिक अथवा आध्यात्मिक परम्परा नहीं, बल्कि एक जीवंत दार्शनिक प्रतिमान के रूप में प्रासंगिक है, जो विकास को नैतिकता से, मानव को प्रकृति से तथा व्यक्तिगत कल्याण को सार्वभौमिक हित से जोड़ता है।

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सतत विकास एवं पर्यावरण-संरक्षण की वास्तविक आधारभूमि बाह्य संसाधनों का मात्र संरक्षण नहीं, बल्कि मानवीय चेतना का नैतिक रूपान्तरण है। बौद्ध दर्शन इसी रूपान्तरण की दार्शनिक आधारभूमि प्रदान करता है। वर्तमान वैश्विक पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में यही उसकी सबसे महत्वपूर्ण प्रासंगिकता है और यही इस शोध का मौलिक दार्शनिक निष्कर्ष भी है।

संदर्भ सूची;

1. World Commission on Environment and Development. (1987). **Our common future**. Oxford University Press.
2. Rolston, H., III. (1988). **Environmental ethics: Duties to and values in the natural world**. Temple University Press.
3. Gethin, R. (1998). **The foundations of Buddhism**. Oxford University Press.
4. Harvey, P. (2000). **An introduction to Buddhist ethics: Foundations, values and issues**. Cambridge University Press.

5. World Commission on Environment and Development. (1987). **Our common future**. Oxford University Press.
6. Rolston, H., III. (1988). **Environmental ethics: Duties to and values in the natural world**. Temple University Press.
7. Callicott, J. B. (1989). **In defense of the land ethic: Essays in environmental philosophy**. State University of New York Press.
8. Schumacher, E. F. (1973). **Small is beautiful: Economics as if people mattered**. Blond & Briggs.
9. Dhammapada. (1995). (Acharya Buddhharakkhita, Trans.). **The Dhammapada**. Buddhist Publication Society. (Original work composed ca. 3rd century BCE).
10. Saṃyutta Nikāya. (2000). (Bhikkhu Bodhi, Trans.). **The connected discourses of the Buddha**. Wisdom Publications.
11. Gethin, R. (1998). **The foundations of Buddhism**. Oxford University Press.
12. Harvey, P. (2000). **An introduction to Buddhist ethics: Foundations, values and issues**. Cambridge University Press.
13. Aṅguttara Nikāya. (2012). (Bhikkhu Bodhi, Trans.). **The numerical discourses of the Buddha**. Wisdom Publications.
14. Loy, D. R. (2008). **Money, sex, war, karma: Notes for a Buddhist revolution**. Wisdom Publications.
15. United Nations Environment Programme. (2019). **Global environment outlook 6**. Cambridge University Press.
16. Harvey, P. (2000). **An introduction to Buddhist ethics: Foundations, values and issues**. Cambridge University Press.
17. United Nations. (2015). **Transforming our world: The 2030 agenda for sustainable development**. United Nations.
18. Loy, D. R. (2019). **Ecodharma: Buddhist teachings for the ecological crisis**. Wisdom Publications.
19. Harris, I. (Ed.). (1991). **Buddhism and ecology**. Harvard University Press.
20. Schmithausen, L. (1991). **The early Buddhist tradition and ecological ethics**. The International Institute for Buddhist Studies.
21. Macy, J. (1991). **World as lover, world as self**. Parallax Press.
22. Keown, D. (2005). **Buddhist ethics: A very short introduction**. Oxford University Press.

Cite the Article:

तिवारी, डॉ० श्रीप्रकाश. (2026). सतत विकास एवं पर्यावरण-संरक्षण में बौद्ध दृष्टि: एक दार्शनिक अनुशीलन The Research Dialogue, 5(3) 89-98, ISSN: 2583-438X (Online), Volume 05, Issue 03, October-2026., DOI: - <https://doi.org/10.64880/theresearchdialogue.v5i3.10>